

[2016] 9 एस. सी. आर. 560

अनीता कुशवाह

बनाम

पुष्पसुदन

(स्थानांतरण याचिका (सी) 2008 का सं. 1343)

19 जुलाई, 2016

[टी.एस. ठाकुर, भारत के मुख्य न्यायाधीश, फकीर मोहम्मद इब्राहिम कलीफुल्ला, ए.के.

सिकरी, एस.ए. बोबडे और आर. भानुमती, न्यायाधीशगण]

भारत का संविधान:

अनुच्छेद 32, 142 - स्थानांतरण याचिका-क्या सर्वोच्च न्यायालय के पास जम्मू और कश्मीर राज्य के किसी भी न्यायालय में लंबित दीवानी या आपराधिक मामले को उस राज्य के बाहर के न्यायालय में स्थानांतरित करने की शक्ति है और इसके विपरीत-आयोजित:की धारा 25, सी. पी. सी दं.प्र.सं. की धारा 406 का प्रावधान और जैसा कि शेष भारत पर लागू होता है, किसी भी मुकदमे को जम्मू और कश्मीर राज्य में या उससे स्थानांतरित करने की मांग करने वाले किसी भी वादी द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है-यह समान रूप से सच है कि जम्मू और कश्मीर दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1977 और जम्मू और कश्मीर आपराधिक प्रक्रिया संहिता, 1989 में भी सर्वोच्च न्यायालय को किसी भी मामले को राज्य के किसी भी न्यायालय दीवानी या अपराधिक से उस राज्य के बाहर के न्यायालय में या इसके विपरीत स्थानांतरित करने का निर्देश हेतु अधिकार देने वाला कोई प्रावधान नहीं है-इसलिए मामलों को राज्य में या उससे स्थानांतरित करने का निर्देश देने के लिए केंद्रीय या राज्य दीवानी

और आपराधिक प्रक्रिया संहिताओं का सहारा लेना खारिज कर दिया जाता है-इस तथ्य से कि जम्मू और कश्मीर राज्य से या राज्य में हस्तांतरण के लिए ऐसा कोई सक्षम प्रावधान नहीं है, एक वरिष्ठ न्यायालय को ऐसे स्थानांतरण का निर्देश देने की शक्ति को कम नहीं करता है, यदि इसकी राय है कि ऐसे निर्देश न्याय के हित में सहायक होने के लिए आवश्यक है- यदि अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन का अधिकार न्याय की पहुँच का एक पहलू है, उस अधिकार का संकट में होना या उसका वास्तविक उल्लंघन अनुच्छेद 32 के तहत शक्तियों के आह्वान को उचित ठहराएगा। ऐसा कोई भी अभ्यास वैध होगा, क्योंकि यह अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत नागरिकों के मौलिक अधिकार के उल्लंघन का निवारण करेगा-इसके अलावा, अनुच्छेद 142 भी एक वाद को एक न्यायालय से दूसरे में स्थानांतरण के निर्देश हेतु आह्वान किया जा सकता है जहां न्यायालय संतुष्ट है कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य के न्यायालय में या न्यायालय से एक आदेश का स्थानांतरण का इनकार, नागरिक को न्याय की पहुँच के उसके अधिकार का इनकार करेगा- इसलिए अनुच्छेद 32,36 एवं 142 के प्रावधान उच्चतम न्यायालय को उचित परिस्थितियों में इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए सशक्त बनाने के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक हैं-सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 -धारा 25-दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 -धारा 406।

अनुच्छेद 14, 21 - न्याय तक पहुँच-आयोजित:वास्तव में अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार का एक पहलू है-न्याय तक पहुँच अनुच्छेद 14 के तहत गारंटीकृत अधिकार का एक पहलू भी हो सकता है जो कानून के समक्ष समानता और कानून के समान संरक्षण की गारंटी देता है-न केवल नागरिकों बल्कि गैर-नागरिकों को भी-नागरिक का अदालतों तक पहुंचने में असमर्थता या अधिकारों एवं दायित्वों के निर्धारण के लिए प्रदान किए गए किसी अन्य न्यायिक तंत्र और के परिणामस्वरूप कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ कानूनों के समान संरक्षण दोनों के संबंध में अनुच्छेद 14 में निहित गारंटी से इनकार करने हेतु बाध्य है।

न्याय तक पहुँच-धारण किए गए सिद्धांत:राज्य को एक प्रभावी न्यायनिर्णायक तंत्र प्रदान करना चाहिए; इस प्रकार प्रदान किया गया तंत्र दूरी के संदर्भ में यथोचित रूप से सुलभ होना चाहिए; न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए; और वादियों को न्यायनिर्णायक प्रक्रिया तक पहुंच किफायती होनी चाहिए।

दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908:धारा 1-दंड प्रक्रिया संहिता 1973 -धारा 1 जम्मू और कश्मीर राज्य में सी. पी. सी. और दं.प्र.सं. का सामान्य आवेदन-आयोजित:सी. पी. सी. और दं.प्र.सं. जैसा कि देश के बाकी हिस्सों पर लागू होता है, विशेष रूप से जम्मू और कश्मीर राज्य में इसके आवेदन को बाहर करते हैं।

संदर्भ का जवाब देते हुए, अदालत ने

माना कि: 1.1. न्याय तक पहुँच की अवधारणा। 'एक अमूल्य मानव अधिकार के रूप में, जिसे अधिकांश संवैधानिक लोकतंत्रों में भी एक मौलिक अधिकार के रूप में, मान्यता प्राप्त है का मूल सामान्य कानून में उतना ही है जितना कि मैग्ना कार्टा में है। वर्ष 1948 में तैयार की गई अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा ने 'न्याय तक पहुँच' से संबंधित दो अधिकारों को मान्यता दी। इसी प्रभाव के लिए नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय वाचा, 1966 के अनुच्छेद 2 का खंड 3 है, जिसमें यह प्रावधान है कि वाचा का प्रत्येक राज्य पक्ष यह कार्य करेगा कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके मान्यता प्राप्त अधिकारों या स्वतंत्रता का उल्लंघन किया गया है, उसके पास एक प्रभावी उपाय होगा और यह सुनिश्चित करने के लिए कि इस तरह के उपचार का दावा करने वाले किसी भी व्यक्ति के अधिकार को सक्षम न्यायिक, प्रशासनिक या विधायी प्राधिकरणों द्वारा निर्धारित किया जाएगा, और राज्य को न्यायिक उपचार की संभावनाओं को विकसित करना भी सुनिश्चित करना चाहिए। [पैरा 9,10 और 11] [572-जी, एच; 573-एफ; 574-ए-बी]

डी स्मिथ द्वारा प्रशासनिक कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा (5 'एच संस्करण, 1995);
प्रो. एम. कैपेलेटी राबेल द्वारा न्याय तक पहुँच (खंड I)-संदर्भित।

1.2. न्याय तक पहुँच को भारत और दुनिया भर के सभी सभ्य समाजों में जीवन के अधिकार के एक हिस्से के रूप में मान्यता दी गई है। अधिकार इतना बुनियादी और अविभाज्य है कि शासन की कोई भी प्रणाली संभवतः इसके महत्व को नजरअंदाज नहीं कर सकती है, अपने नागरिकों को इससे वंचित करने की बात तो छोड़िए। मैग्ना कार्टा, अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय वाचा, 1966, 'उबी जुस इबी रेमेडियम' का प्राचीन रोमन न्यायिक सिद्धांत; सदियों पहले न्यायालयों की न्यायिक घोषणाओं द्वारा सामान्य कानून के मौलिक सिद्धांतों के विकास ने न्याय तक पहुँच को एक बुनियादी और अविभाज्य मानव अधिकार के रूप में स्वीकार करने में योगदान दिया है जिसे सभी सभ्य समाज और प्रणालियाँ मान्यता देती हैं और लागू करती हैं। [पैरा 26] [581-ई-जी]

1.3. यदि "जीवन" का तात्पर्य न केवल भौतिक अर्थों में जीवन है, बल्कि अधिकारों का एक समूह है जो जीवन को जीने लायक बनाता है, तो यह मानने के लिए कोई कानूनी या अन्य आधार नहीं है कि "न्याय तक पहुँच" से इनकार करने से मानव जीवन की गुणवत्ता प्रभावित नहीं होगी ताकि अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार के दायरे से न्याय तक पहुँच प्राप्त की जा सके। इसलिए, न्याय तक पहुँच संविधान के अनुच्छेद 1.4 के तहत वास्तव में संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार का एक पहलू है। न्याय तक पहुँच गारंटीकृत अधिकार का पहलू भी हो सकता है। जो न केवल नागरिकों बल्कि गैर-नागरिकों को भी कानून के समक्ष समानता और कानूनों के समान संरक्षण की गारंटी देता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कानून के समक्ष समानता और कानूनों का समान संरक्षण कानून को लागू करने वाली कार्यकारी कार्रवाई के क्षेत्र में इसके अनुप्रयोग

तक सीमित नहीं है। यह उतना ही है। न्यायालयों और न्यायाधिकरण और न्यायनिर्णायक मंचों के समक्ष कार्यवाही के संबंध में उपलब्ध है जहां कानून लागू किया जाता है और न्याय प्रशासित किया जाता है। अधिकारों और दायित्वों के निर्धारण के लिए प्रदान की गई अदालतों या किसी अन्य न्यायिक तंत्र तक पहुँचने में नागरिक की असमर्थता के परिणामस्वरूप कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ समान सुरक्षा दोनों के संबंध में अनुच्छेद 14 में निहित गारंटी से इनकार करना बाध्य है। कानून के। • किसी भी न्यायिक तंत्र की अनुपस्थिति या इस तरह के तंत्र की अपर्याप्तता उन लोगों को रोकने के लिए बाध्य है जो कानूनों के समक्ष समानता के अपने अधिकार को लागू करने और कानूनों के समान संरक्षण की मांग को ठीक करते हैं और इस तरह कानूनों के समक्ष समानता या कानूनों के समान संरक्षण की गारंटी को नकारते हैं और इसे केवल एक चिढ़ाने वाले भ्रम में कम करते हैं। [पैरा 28] [583-ए-ई]

2. न्याय तक पहुँच के चार मुख्य पहलू हैं:

(i) न्यायनिर्णायक तंत्र की आवश्यकता: उनमें से एक। नागरिकों को न्याय तक पहुँच प्रदान करने के लिए सबसे बुनियादी आवश्यकताएं एक न्यायिक तंत्र की स्थापना करना है, चाहे वह न्यायालय, न्यायाधिकरण, आयोग या प्राधिकरण के रूप में वर्णित हो या किसी अन्य नाम से जाना जाए, जहां एक नागरिक अपनी शिकायत का विरोध कर सकता है और इस बात का निर्णय ले सकता है जिसे वह किसी अन्य नागरिक या राज्य या उसके किसी भी साधन द्वारा अपने अधिकार के उल्लंघन के रूप में समझता है।

(ii) दूरी के संदर्भ में तंत्र सुविधाजनक रूप से सुलभ होना चाहिए: इस प्रकार प्रदान किया गया मंच/तंत्र, न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के पदानुक्रम को ध्यान में रखते हुए, न्याय तक पहुँच के लिए दूरी के संदर्भ में यथोचित रूप से सुलभ होना चाहिए क्योंकि इतना कुछ वादी की अपनी शिकायत को अदालत/न्यायाधिकरण/अदालत/सक्षम प्राधिकारी के समक्ष प्रभावी ढंग से रखने की क्षमता पर निर्भर करता है।

(iii) न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए: "एक संवैधानिक मूल्य के रूप में "न्याय तक पहुँच" केवल एक भ्रम होगा यदि न्याय त्वरित नहीं है। प्रसिद्ध रूप से कहा जाता है कि न्याय में देरी करना न्याय से इनकार करना है। यदि न्याय के प्रशासन की प्रक्रिया उन लोगों के लिए जो न्याय की माँग करते हैं के लिए इतनी समय लेने वाली, श्रमसाध्य, सुस्त और निराशाजनक है। कि यह उन्हें एक विकल्प के रूप में उस प्रक्रिया का सहारा लेने पर विचार करने से भी रोकता है या मना करता है, यह न केवल न्याय तक पहुँच से इनकार करने के समान होगा, बल्कि स्वयं न्याय से भी इनकार करने के समान होगा।

(iv) की प्रक्रिया निर्णय विवादियों के लिए किफायती होना चाहिए:

न्याय तक पहुँच फिर से एक भ्रम नहीं होगा यदि प्रदान किया गया न्यायनिर्णायक तंत्र इतना महंगा है कि एक विवादित व्यक्ति को उसी का सहारा लेने से रोका जा सके। संविधान का अनुच्छेद 39-ए वादियों को कानूनी सहायता प्रदान करने का एक प्रशंसनीय उद्देश्य बताता है और राज्य को को सुलभ बनाता है। समाज के कम भाग्यशाली वर्गों के लिए न्याय तक पहुँच [पैरा 30] [583-जी; 584-बी-सी, डी-जी; 585-जी-एच; 586-ए]

3. क्या भारत के संविधान का अनुच्छेद 32 के साथ पठित अनुच्छेद 142 सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी स्थिति में स्थानांतरण का निर्देश देने का शक्ति देता है जहां न तो केंद्रीय दीवानी प्रक्रिया संहिता या केंद्रीय दंड प्रक्रिया संहिता इस तरह के हस्तांतरण का शक्ति जम्मू एवं कश्मीर राज्य से को देती है। एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में मामलों के हस्तांतरण की आवश्यकता अक्सर कई स्थितियों में उत्पन्न होती है जिन्हें दीवानी प्रक्रिया संहिता (सी. पी. सी.) या दंड प्रक्रिया संहिता (दं.प्र.सं) के तहत उन्हें उपलब्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए स्थानांतरण का निर्देश देने के लिए सक्षम न्यायालयों द्वारा उपयुक्त रूप से संबोधित किया जाता है। पक्षकारों और गवाहों की सुविधा अक्सर अदालतों द्वारा इस तरह के स्थानांतरण का निर्देश देने का मुख्य कारण बनती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि जबकि

देश के बाकी हिस्सों में अदालतें सी. पी. सी. और दं.प्र.सं के प्रावधानों के तहत दीवानी/आपराधिक मामलों के हस्तांतरण के लिए आवेदनों पर विचार करती हैं. यह तथ्य कि जम्मू और कश्मीर राज्य से या राज्य में हस्तांतरण के लिए ऐसा कोई सक्षम प्रावधान नहीं है, इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए किसी वरिष्ठ न्यायालय की शक्ति को कम नहीं करता है, अगर यह राय है कि न्याय के हित को कम करने के लिए ऐसा निर्देश आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, भले ही अदालतों को एक अदालत से दूसरी अदालत में स्थानांतरण का निर्देश देने का अधिकार देने वाला प्रावधान कानून से हटा दिया गया हो, फिर भी वरिष्ठ अदालतों उचित मामलों में इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने में सक्षम होंगी, जब तक कि ऐसे अदालतों संतुष्ट है कि इस तरह के हस्तांतरण से इनकार करने के परिणामस्वरूप किसी दिए गए तथ्य की स्थिति में वादी को न्याय प्राप्त करने के अधिकार का उल्लंघन होगा। [पैरा 32 जे [587-बी-ई]

केशव सिंह ए आई आर 1965 एससी 745:1965 एस. सी. आर. 413; एल. चंद्र कुमार बनाम भारत संघ (1997) 3 एस. सी. सी. 261:1997 (2) एससीआर 1186; हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य (1980) 1 एससीसी 81:1979 (3) एस. सी. आर. 169; इम्तियाज अहमद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (2012) 2 एससीसी 688:2012 (1) एस. सी. आर. 779; बृज मोहन लाल बनाम भारत संघ और अन्य (2012) 6 एससीसी 502:2012 (5) एस. सी. आर. 305; तमिलनाडु मर्केटाइल बैंक शेयरधारक कल्याण संघ बनाम एस. सी. सेकर और अन्य (2009) 2 एससीसी 784:2008 (17) एस. सी. आर. 85; मेनका गाँधी बनाम भारत संघ (1978) 1 एससीसी 248:1978 (2) एस. सी. आर. 621; सन ॥ बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन (1978) 4 एस. सी. सी. 494:1979 (1) एस. सी. आर. 392; चार्ल्स शोभराज बनाम अधीक्षक केंद्रीय कारा 1 (1978) 4 एस. सी. सी. 104:1979 (1) एससीआर 512; खत्री 11 बनाम बिहार राज्य (1981) 1 एससीसी 627:1981 (2) एससीआर 408;

प्रेम शंकर शुक्ला बनाम दिल्ली प्रशासन (1980) 3 एससीसी 526:1980 (3) एस. सी. आर. 855; रुडा शाह बनाम बिहार राज्य (1983) 4 एस. सी. सी. 141:1983 (3) एससीआर 508; शीला बारसे बनाम भारत संघ (1988) 4 एससीसी 226:1988 (2) पूरक एस. सी. आर. 643; परमानंद कटारा बनाम भारत संघ (1989) 4 एस. सी. सी. 248; चमेली सिनजे एच. बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1996) 2 एस. सी. सी. 549:1995 (6) पूरक एससीआर 827; शांतिस्टार बिल्डर्स बनाम नारायण खिमलाल टोटामे (1990) 1 एससीसी 520; एम. सी. मेह बनाम भारत संघ (1997) 1 एस. सी. सी. 388; लता सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2006) 5 एस. सी. सी. 475:2006 (3) पूरक एस. सी. आर. 350; सुचिता श्रीवास्तव बनाम चंडीगढ़ प्रशासन (2009) 9 एस. सी. सी. 1; सुखवंत सिंह बनाम पंजाब राज्य (2009) 7 एस. सी. सी. 559; सुब्रमण्यम बनाम भारत संघ डब्ल्यू. पी. (अपराधिक) 2014 का सं.184; डी. के. बासु 1 वीं पश्चिम बंगाल राज्य (2015) 8 एस. सी. सी. 774:2015 (6) एस. सी. आर. 1002; माधव हयावदानराव होसकोट बनाम महाराष्ट्र राज्य (1978) 3 एस. सी. सी. 544:1979 (1) एससीआर 192; डी. के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य (2015) 8 एससीसी 744:2015 (7) एससीआर 814-पर भरोसा किया गया।

4. अब यदि न्याय तक पहुँच संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार का एक पहलू है, तो उस अधिकार का वास्तविक उल्लंघन या खतरा संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय की शक्तियों के आह्वान को उचित ठहराएगा। उस अनुच्छेद के तहत अदालत में निहित शक्ति का प्रयोग उन स्थितियों को पूरा करने के लिए एक अदालत से दूसरी अदालत में मामले के हस्तांतरण के लिए एक निर्देश का रूप ले सकता है जहां वैधानिक प्रावधान ऐसे हस्तांतरण के लिए प्रदान नहीं करते हैं। इस तरह की कोई भी कवायद वैध होगी, क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत नागरिकों के गारंटीकृत मौलिक अधिकार के उल्लंघन को रोकेगी। संविधान का अनुच्छेद 32 के अलावा

किसी मामले को एक अदालत से दूसरी अदालत में स्थानांतरित करने के निर्देश हेतु संविधान के अनुच्छेद 142 का भी आह्वान किया जा सकता है। वर्तमान मामलों में, जम्मू और कश्मीर राज्य के न्यायालय से मामलों को राज्य के बाहर के न्यायालय या इसके विपरीत में स्थानांतरित करने के निर्देश हेतु लिए अनुच्छेद 142 के तहत शक्ति के उपयोग के खिलाफ कोई निषेध नहीं है। इस तरह का कोई सक्षम प्रावधान नहीं है। हालांकि, एक सक्षम प्रावधान की अनुपस्थिति को मामलों के जम्मू एवं कश्मीर राज्य में पर से हस्तांतरण के खिलाफ निषेध के रूप में नहीं माना जा सकता है। किसी भी तरह से, एक निषेध सरलीकरण पर्याप्त नहीं है। समान रूप से महत्वपूर्ण यह देखना है कि क्या इस तरह के किसी भी निषेध में सार्वजनिक नीति का कोई मौलिक सिद्धांत अंतर्निहित है। इस तरह का कोई प्रतिबंध या कोई सार्वजनिक नीति किसी भी मौलिक सिद्धांत पर आधारित सार्वजनिक नीति से बहुत कम वर्तमान मामलों में नहीं देखी जा सकती है। इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 142 के तहत इस न्यायालय को उपलब्ध असाधारण शक्ति का उपयोग ऐसी स्थिति में किया जा सकता है जहां न्यायालय संतुष्ट हो कि जम्मू और कश्मीर राज्य में न्यायालय से या न्यायालय में स्थानांतरण के आदेश से इनकार करने से नागरिक को न्याय तक पहुँच के उसके अधिकार से वंचित कर दिया जाएगा। इसलिए, अनुच्छेद 32, 136 और 142 के प्रावधान इस न्यायालय को उचित परिस्थितियों में इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए सशक्त करने के लिए पर्याप्त हैं, चाहे कोई भी केंद्रीय नागरिक संहिता और आपराधिक प्रक्रियाएं राज्य में लागू न हों और न ही राज्य की सिविल और आपराधिक प्रक्रिया की राज्य संहिताओं में ऐसा कोई प्रावधान है जो इस न्यायालय को मामलों को स्थानांतरित करने का अधिकार देता है। [पारस 33,34 और 36] [587-एफ-एच; 589-जी-एच; 590-ए-सी]

यूनियन कार्बाइड कार्पोरेशन बनाम भारत संघ (1991) 4 एस. सी. सी. 584:1991

(1) पूरक एस. सी. आर. 251-पर निर्भर।

आर बनाम गृह विभाग के राज्य सचिव, एक्स पी लीच 1993 (4) ऑल ई. आर. 539; लेवेलिन इवांस ए. आई. आर. 1926 बम 551; पी. के. तारे बनाम सम्राट ए. आई. आर. 1943 नागपुर 26; डेलकोर्ट बनाम बेल्जियम 1970 ई. सी. एच. आर. 1-संदर्भित।

वाद कानून संदर्भ

1993 (4) आल इआर 539	संदर्भित किया	कंडिका 14
अआईआर 1926 बॉम्बे 551	संदर्भित किया	कंडिका 15
अआईआर 1943 नागपुर 26	संदर्भित किया	कंडिका 16
1965 एस सी आर 413	भरोसा किया	कंडिका 17
1997 (2) एस सी आर 1186	भरोसा किया	कंडिका 17
1979 (3) एस सी आर 169	भरोसा किया	कंडिका 18
2012 (1) एस सी आर 779	भरोसा किया	कंडिका 19
1970 इसीएचआर 1	संदर्भित किया	कंडिका 20
2012 (5) एस सी आर 305	भरोसा किया	कंडिका 21
2008 (17) एस सी आर 85	भरोसा किया	कंडिका 22
1978 (2) एस सी आर 621	भरोसा किया	कंडिका 27
1979 (1) एस सी आर 392	भरोसा किया	कंडिका 27
1979 (1) एस सी आर 512	भरोसा किया	कंडिका 27

1981 (2) एस सी आर 408	भरोसा किया	कंडिका 27
1980 (3) एस सी आर 855	भरोसा किया	कंडिका 27
1983 (3) एस सी आर 508	भरोसा किया	कंडिका 27
1988 (2) पूरक एस सी आर 643	भरोसा किया	कंडिका 27
(1989) 4 एस सी सी 248	भरोसा किया	कंडिका 27
1995 (6) पूरक एस सी आर 827	भरोसा किया	कंडिका 27
1996 (10) पूरक एस सी आर 12	भरोसा किया	कंडिका 27
(1997) 1 एस सी सी 388	भरोसा किया	कंडिका 27
2006 (3) पूरक एस सी आर 350	भरोसा किया	कंडिका 27
(2009) 9 एस सी सी 1	भरोसा किया	कंडिका 27
(2009) 7 एस सी सी 559	भरोसा किया	कंडिका 27
2014 का डब्लू पी (आपराधिक) सं. 184	भरोसा किया	कंडिका 27
2015 (6) एस सी आर 1002	भरोसा किया	कंडिका 27
1979 (1) एस सी आर 192	भरोसा किया	कंडिका 27
1991 (1) पूरक एस सी आर 251	भरोसा किया	कंडिका 27
2015 (7) एस सी आर 814	भरोसा किया	कंडिका 30

दीवानी/आपराधिक मूल न्यायनिर्णय: 2008 की स्थानांतरण याचिका (दीवानी) संख्या
1343

साथ में

2011 की टी.पी.(अपराधिक) सं 116

2011 की टी.पी.(सी) सं. 562

2012 की जी.टी.पी.(सी) सं. 1161, 1294, 1497 एवं 1573

2013 की टी.पी.(सी) सं. 426, 1773, 1821 एवं 1845

2014 की टी.पी.(अपराधिक) सं. 99

2014 की टी.पी.(सी) सं 14

रंजीत कुमार, एस. जी., पी. एस. पटवालिया, ए. एस. जी., विवेक के. तन्खा, बी. एच. मार्लापल्ला, वरिष्ठ अधिवक्ता, सुश्री रशमी मल्होत्रा, सुश्री सू मा सूरी। प्रदीप कुमार मित्तल, अनुराग कश्यप, अरुणव तिवारी, सुश्री शिखा श्रीवास्तव, सुश्री मोना के. राजवंशी, अरविंद कुमार, प्रदीप कुमार माथुर, श्रीमती पूनम प्रसाद श्रीमती लक्ष्मी अरविंद, अश्विन यश, विनोद पांडे, नितिन बी. कुमार ठाकुर, विभाकर मिश्रा, शारिक अहमद, तारिक अहमद, सुनील कुमार। वर्मा, विपिन गोगिया, श्रीमती जसप्रित गोगिया, सुश्री कविता वाडिया, शशांक त्रिपाठी, सुधीर वालिया, सचिन पुजारी, पार्थ तिवारी, अभिषेक अत्रे, सुश्री निहारिका अहलूवालिया, सुश्री प्रज्ञा वजीर, सुश्री एस. जनानी, सुनंदो राहा, अनुपम रैना, सुश्री मधु मूलचंदानी, अभय प्रकाश सहाय, जमनेश कुमार, हिमांशु शेखर, उज्ज्वल सिंह, जे. पी. सिंह, आर. सी. सी. कौशिक, कुणाल चीमा, अजीत वाघ, अपूर्व शुक्ला, आदित्य गग्गर, विलास गिरि, योगेश अहिराव, यशपाल ढींगरा, श्रीमती मोना के. राजवंशी, सुनी कुमार वर्मा, राजिंदर माथुर, शैलेंद्र भारद्वाज

देबासीस मिश्रा, सुश्री ककेवर वाडिया, सी.डी. सिंह, सुश्री स्वाक्षी कक्कर वैकिट सुब्रमिनयणो टी.आर. राहत बंसल, अनुप कुमार, वैकटा कृष्णा कुंदिस, नीतिन संग्रा सुश्री तमता, गौरव शर्मा, सुनिल फर्नांडिस, सुश्री आस्था शर्मा, पुनीय के.जी. विमल राय जद, नरेश कुमार, क्षीकांत एन. वेदल लक्ष्मी , अरविंद, अशोक माथुर, रबिन मजुमदर रमेश बाबू एम. आर., उपस्थित पक्षकारों के अधिवक्तागण

न्यायालय के निर्णय की घोषणा

टी. एस. ठाकुर, भारत के मुख्य न्यायाधिश 1. इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ ने 21 अप्रैल, 2015 के एक आदेश द्वारा इन स्थानांतरण याचिकाओं को संविधान पीठ को यह जांचने के लिए भेजा है कि क्या इस न्यायालय के पास जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी भी न्यायालय में लंबित दीवानी या आपराधिक मामले को उस राज्य के बाहर के न्यायालय में एवं विलोमतः स्थानांतरित करने की शक्ति है।

2. प्रत्यर्थियों द्वारा स्थानांतरण याचिकाओं का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 25 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 406 के प्रावधान, जो इस न्यायालय को क्रमशः सिविल और आपराधिक मामलों को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानांतरित करने का अधिकार देते हैं, जम्मू और कश्मीर राज्य में लागू नहीं होते हैं और इसलिए, इस तरह के किसी भी हस्तांतरण को निर्देशित करने के लिए लागू नहीं किया जा सकता है। स्थानांतरण याचिकाओं का इस आधार पर भी विरोध किया जाता है कि जम्मू और दीवानी सिविल प्रक्रिया संहिता, 1977 और जम्मू और कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता, 1989 में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो सर्वोच्च न्यायालय को किसी भी मामले को उस राज्य से राज्य के बाहर के न्यायालय में या इसके विपरीत स्थानांतरित करने का निर्देश देने का अधिकार देता है। प्रत्यर्थियों की ओर से यह भी तर्क दिया जाता है कि इस न्यायालय को जम्मू और कश्मीर राज्य से या वहां दीवानी या आपराधिक मामलों को सीधे स्थानांतरित

करने का अधिकार देने वाले किसी भी प्रावधान के अभाव में, इस न्यायालय द्वारा ऐसी किसी भी शक्ति की याचना या उपयोग नहीं किया जा सकता है। यह भी आग्रह किया जाता है कि संविधान के अनुच्छेद 139-ए के प्रावधान, जो इस न्यायालय को एक उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित मामले को अपने या दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरित करने का अधिकार देता है, वर्तमान मामलों पर भी लागू नहीं होते हैं क्योंकि संविधान 42वां संशोधन अधिनियम, 1977, जिससे उक्त प्रावधान जोड़ा गया है, जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होता है। यह तर्क दिया जाता है कि सिविल और दंड प्रक्रिया संहिता में या किसी भी सक्षम प्रावधान के अभाव में या भारत का संविधान या उस मामले के लिए राज्य का संविधान, एक वादी को जम्मू और कश्मीर राज्य में लंबित दीवानी या आपराधिक मामले को राज्य के बाहर या इसके विपरीत किसी न्यायालय में स्थानांतरित करने की मांग करने का कोई अधिकार नहीं है।

3. दूसरी ओर, याचिकाकर्ताओं की ओर से यह समर्पित किया गया कि जबकि दीवानी प्रक्रिया संहिता की धारा 25 और आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 406 जो देश के बाकी हिस्सों पर लागू होती है, जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होती है, संविधान के तहत या कानून के किसी भी अन्य प्रावधान के तहत सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तांतरण की शक्ति के प्रयोग के खिलाफ उक्त दो संहिताओं में कोई विशिष्ट या निहित निषेध नहीं था। यह आग्रह किया गया कि जम्मू और कश्मीर राज्य में केंद्रीय दीवानी और/या दंड प्रक्रिया संहिता की अप्रयोज्यता या राज्य दीवानी और/या दंड प्रक्रिया संहिता में एक सक्षम प्रावधान की अनुपस्थिति का मतलब यह नहीं है कि यह न्यायालय हस्तांतरण की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता है, अगर यह संविधान के प्रावधानों के तहत अन्यथा उपलब्ध है। इसी प्रकार संविधान के 42वां संशोधन अधिनियम में गैर-विस्तार के कारणवश जम्मू एवं कश्मीर राज्य में अनुच्छेद 139-ए की अप्रयोज्यता, उस राज्य में हस्तांतरण की शक्ति के अनुप्रयोग के

खिलाफ निषेध का गठन, केवल विकलांगता को छोड़कर नहीं करता है, यदि ऐसी शक्ति का पता अन्यथा संवैधानिक ढाँचे के भीतर किसी अन्य स्रोत से पता लगाया जा सकता है।

4. दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 और इसी तरह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसके बाद "केंद्रीय संहिता" के रूप में संदर्भित किया गया है) जो देश के बाकी हिस्सों में लागू होती है, विशेष रूप से जम्मू और कश्मीर राज्य में इसके आवेदन को बाहर करती है। यह दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 1 से स्पष्ट है जो संक्षिप्त शीर्षक, प्रारंभ और विस्तार से संबंधित है एवं इस प्रकार है:-

“1. संक्षिप्त शीर्षक, प्रारंभ और विस्तार-(1) इस अधिनियम को दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। (2) यह जनवरी, 1909 के पहले दिन से लागू होगा। [2] (3) यह (ए) जम्मू और कश्मीर राज्य; (बी) नागालैंड राज्य और आदिवासी क्षेत्रों को छोड़कर पूरे भारत में फैला हुआ है: बशर्ते कि संबंधित राज्य सरकार, आधिकारिक राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, इस संहिता या उनमें से किसी के प्रावधानों का विस्तार नागालैंड राज्य के पूरे या हिस्से या ऐसे आदिवासी क्षेत्रों में, जो भी मामला हो, ऐसे पूरक, आकस्मिक या परिणामी संशोधनों के साथ कर सकती है जो अधिसूचना में निर्दिष्ट किए जाएं। स्पष्टीकरण-इस खंड में "जनजातीय क्षेत्र" से वे राज्य क्षेत्र अभिप्रेत हैं जो 21 जनवरी, 1972 से ठीक पहले संविधान की छठी अनुसूची के पैरा 20 में निर्दिष्ट असम के जनजातीय क्षेत्रों में शामिल किए गए थे। (4) अमिनदीवी द्वीप समूह और पूर्वी गोदावरी, पश्चिम गोदावरी और आंध्र प्रदेश राज्य और केंद्र शासित प्रदेश लक्षद्वीप में विशाखापत्तनम एजेंसियां, के संबंध में इस संहिता का अनुप्रयोग, इस संहिता के अनुप्रयोग से संबंधित ऐसे द्वीपों, एजेंसियों या ऐसे केंद्र शासित प्रदेश में, जो भी मामला हो, उस समय

लागू किसी भी नियम या विनियमन के अनुप्रयोग पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना होगा।”

(जोर दिया गया)

5. इसी प्रभाव के लिए दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 1 है जो निम्नानुसार है:

“संक्षिप्त शीर्षक विस्तार और प्रारंभ।

1. संक्षिप्त शीर्षक विस्तार और प्रारंभ।

(1) इस अधिनियम को दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 कहा जा सकता है।

(2) यह जम्मू और कश्मीर राज्य को छोड़कर पूरे भारत में फैला हुआ है: बशर्ते कि इस संहिता के प्रावधान, उसके अध्याय VIII, X और XI से संबंधित प्रावधानों के अलावा, लागू नहीं होंगे-(ए) नागालैंड राज्य के लिए, (बी) आदिवासी क्षेत्रों के लिए, लेकिन संबंधित राज्य सरकार, अधिसूचना द्वारा, ऐसे प्रावधानों या उनमें से किसी को नागालैंड राज्य के पूरे या हिस्से या ऐसे आदिवासी क्षेत्रों में लागू कर सकती है, जो ऐसी पूरक, आकस्मिक या परिणामी संशोधनों के साथ जैसा भी मामला हो, जो अधिसूचना में निर्दिष्ट किया जाए। स्पष्टीकरण। -इस धारा में, "जनजातीय क्षेत्र" से वे क्षेत्र अभिप्रेत हैं जो 21 जनवरी, 1972 से ठीक पहले, शिलांग नगरपालिका की स्थानीय सीमाओं के भीतर के क्षेत्रों के अलावा, संविधान की छठी अनुसूची के पैराग्राफ 20 में निर्दिष्ट असम के जनजातीय क्षेत्रों में शामिल किए गए थे।

(जोर दिया गया)

6. उत्तरदाताओं के लिए विद्वान वकील, उपरोक्त के आलोक में, यह तर्क देने में पूरी तरह से उचित है कि दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 25 और आपराधिक प्रक्रिया,

1973 की धारा 406 के प्रावधान, जो शेष भारत पर लागू होते हैं, किसी भी वादी द्वारा जम्मू और कश्मीर राज्य में या उससे किसी भी मामले को स्थानांतरित करने की मांग नहीं की जा सकती है। यह भी उतना ही सच है कि जम्मू और कश्मीर दीवानी प्रक्रिया संहिता, एस.भी.टी. 1977 और जम्मू और कश्मीर दंड प्रक्रिया संहिता एस.भी.टी.1989 में भी इस न्यायालय को किसी भी मामले दीवानी या अपराधिक को राज्य के किसी भी न्यायालय से उस राज्य के बाहर के न्यायालय में या इसके विपरीत स्थानांतरित करने का अधिकार देने वाला कोई प्रावधान नहीं है। इसलिए, मामलों को राज्य में या उससे स्थानांतरित करने के निर्देश के लिए केंद्रीय या राज्य दीवानी और आपराधिक प्रक्रिया संहिताओं का सहारा लेने से इनकार किया जाता है। इस हद तक, इसलिए, उत्तरदाताओं की ओर से आग्रह की गई दलीलें अच्छी तरह से स्थापित और कानूनी रूप से संतोषजनक हैं।

7. हालाँकि, सवाल यह है कि क्या दीवानी और दंड प्रक्रिया संहिताओं में निहित प्रावधानों से स्वतंत्र शक्ति का कोई स्रोत है जो जम्मू और कश्मीर राज्य से किसी मामले के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए या इसके विपरीत हेतु यह न्यायालय कर सकता है। याचिकाकर्ताओं की ओर से, यह तर्क दिया गया कि भले ही दीवानी और आपराधिक प्रक्रिया की केंद्रीय संहिताएं जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होती हैं और यहां तक कि जब दीवानी और आपराधिक प्रक्रिया की राज्य संहिताओं में इस न्यायालय को सीधे स्थानांतरण का निर्देश देने का कोई प्रावधान नहीं है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि यह न्यायालय उचित मामले में स्थानांतरण का आदेश देने में असहाय है, जहां किसी दिए गए मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में इस तरह के हस्तांतरण की आवश्यकता होती है। यह काफी फॉरेंसिक दृढ़ता के साथ तर्क दिया गया था कि न्याय तक पहुंच भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत एक मौलिक अधिकार होने के नाते, कोई भी वादी जिसका न्याय तक पहुंच का मौलिक अधिकार वंचित या खतरे में है, अपने अधिकार की सुरक्षा और प्रवर्तन के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत निवारण के लिए इस न्यायालय

का रख कर सकता है। यह न्यायालय ऐसे किसी भी मामले में ऐसे अधिकार की रक्षा के लिए उचित निर्देश जारी कर सकता है जिसके संरक्षण में उचित मामलों में उस राज्य से मामले राज्य के बाहर या इसके विपरीत के न्यायालय में स्थानांतरित करने का निर्देश शामिल हो सकता है। यह जोरदार तर्क दिया गया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 के साथ पठित अनुच्छेद 32 इस न्यायालय को हस्तक्षेप करने और उपयुक्त निर्देश जारी करने के लिए काफी सशक्त बनाता है, जहां भी ऐसे निर्देश पक्षों को पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक माने जाते हैं, जिसमें यह सुनिश्चित करना भी शामिल है कि जम्मू और कश्मीर राज्य के भीतर या बाहर किसी भी न्यायालय में कानूनी कार्यवाही में लगे वादियों को अपने मामलों को उस राज्य में या उससे स्थानांतरित करके न्याय प्राप्त करने का एक निष्पक्ष और उचित अवसर मिले, यदि आवश्यक हो।

8. बार में जो तर्क दिया जाता है, उसके संदर्भ में दो अलग-अलग प्रश्न विचार के लिए आते हैं। पहले में इस बात की जांच शामिल है कि क्या न्याय तक पहुंच वास्तव में एक मौलिक अधिकार है और यदि ऐसा है, तो उस अधिकार का प्रभाव और सामग्री क्या है, जबकि दूसरा यह है कि क्या भारत के संविधान का अनुच्छेद 32 और 142 इस न्यायालय को उचित परिस्थितियों में जम्मू और कश्मीर राज्य से मामलों के हस्तांतरण के लिए उपयुक्त निर्देश जारी करने का अधिकार देता है। हमारे विचार में, ये दोनों पहलू इस न्यायालय के साथ-साथ इंग्लैंड के न्यायालयों के न्यायिक निर्णयों से अच्छी तरह से विचारित हैं। जिसमें न्यायालयों को न्याय तक पहुँच के अधिकार के न्यायशास्त्रीय पहलू और जीवन के अधिकार के साथ इसके सहसंबंध की जांच करने का अवसर मिला है। उन स्थितियों में मामलों के हस्तांतरण को निर्देशित करने के लिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 142 की उपलब्धता जहां ऐसी शक्ति एक सामान्य कानून या संविधान के तहत सख्ती से तथा कथित उपलब्ध नहीं है, इस न्यायालय द्वारा पहले भी कई अवसरों पर न्यायिक रूप से जांची गई है। हम उक्त दो पहलुओं से एक के बाद दूसरे से निपट जा सकता है।

9. अमूल्य मानव अधिकार के रूप में 'न्याय तक पहुँच' की अवधारणा जिसे अधिकांश संवैधानिक लोकतंत्रों में एक मौलिक अधिकार के रूप में भी मान्यता दी गई है, की उत्पत्ति सामान्य कानून में उतनी ही है जितनी मैग्ना कार्टा (महाधिकार-पत्र) में है। मैग्ना कार्टा निम्नलिखित शब्दों में अदालतों तक पहुँच के बुनियादी अधिकार की नींव रखता है:

“किसी भी स्वतंत्र व्यक्ति को न तो ले जाया जाएगा, न कैद किया जाएगा, न अन्याय से बेदखल किया जाएगा, न गैरकानूनी घोषित किया जाएगा, न निर्वासित किया जाएगा और न ही किसी भी तरह से बर्बाद किया जाएगा, न ही हम उसके खिलाफ जाएंगे या भेजेंगे, सिवाय उसके साथियों के वैध निर्णय या देश के कानून के द्वारा।

हम किसी को नहीं बेचेंगे, हम किसी को भी न्याय के अधिकार से इनकार या देरी नहीं करेंगे।

इसके अलावा, वे सभी उपरोक्त रीति-रिवाज और स्वतंत्रताएँ, जिनका पालन हमने अपने राज्य में अपने लोगों के प्रति किया है, हमारे पूरे राज्य के साथ-साथ पादरी वर्ग के लोग को, सामान्य जन के रूप में जहाँ तक उनके लोगों के प्रति उनका संबंध है।

इसलिए, यह हमारी इच्छा है, और हम दृढ़ता से आदेश देते हैं, कि अंग्रेजी चर्च स्वतंत्र हो, और हमारे राज्य में पुरुषों को उपरोक्त सभी स्वतंत्रताओं, अधिकारों और रियायतों के साथ-साथ शांतिपूर्ण, स्वतंत्र रूप से और चुपचाप, पूरी तरह से और पूर्ण रूप से, अपने लिए और उनके उत्तराधिकारियों के लिए, हमारे और हमारे उत्तराधिकारियों के लिए, सभी पहलुओं में और सभी स्थानों पर हमेशा के लिए, जैसा कि ऊपर कहा गया है। इसके अलावा, बैरनों की ओर से भी हमारी ओर से एक शपथ ली गई है कि उपरोक्त सभी शर्तों को सद्भावना और बुरे इरादे के बिना रखा जाएगा-

हमारे हाथ के नीचे दिए गए-उपरोक्त नाम और कई अन्य गवाह हैं-जून के पंद्रहवें दिन, हमारे शासनकाल के सत्रहवें वर्ष में, विंडसर और स्टेन्स के बीच, रन्नीमेड नामक घास के मैदान में।”

10. वर्ष 1948 में तैयार किए गए अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा ने निम्नलिखित शब्दों में 'न्याय तक पहुंच' से संबंधित दो अधिकारों को मान्यता दी:

“अनुच्छेद 8: प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या कानून द्वारा दिए गए मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कार्यों के लिए सक्षम राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों द्वारा एक प्रभावी उपचार का अधिकार है।

अनुच्छेद.10: प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों और दायित्वों के निर्धारण में और अपने खिलाफ किसी भी आपराधिक आरोप के लिए एक स्वतंत्रता और निष्पक्ष न्यायाधिकरण द्वारा निष्पक्ष और सार्वजनिक सुनवाई का पूर्ण समानता से अधिकार है।”

11. इसी प्रभाव के लिए नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय वाचा, 1966 के अनुच्छेद 2 का खंड 3 है। जिसमें यह प्रावधान है कि वाचा का प्रत्येक राज्य पक्षकार यह वचन लेगा कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके अधिकारों या स्वतंत्रता का उल्लंघन किया गया है, उसके पास एक प्रभावी उपचार होगा और यह सुनिश्चित करने के लिए कि इस तरह के उपचार का दावा करने वाले किसी भी व्यक्ति को सक्षम न्यायिक, प्रशासनिक या विधायी प्राधिकरणों द्वारा निर्धारित करने का अधिकार होगा, और राज्य को न्यायिक उपचार की संभावनाओं को विकसित करना भी सुनिश्चित करना चाहिए।

12. प्रशासनिक कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा पर डी स्मिथ की पुस्तक (5 वीं संस्करण, 1995) में इस सिद्धांत को इस प्रकार बताया गया है:

“यह विधायी इरादे का एक सामान्य कानून अनुमान है कि न्यायसंगत मुद्दों के संबंध में क्वींस कोर्ट की पहुंच को कानून में स्पष्ट शब्दों के अलावा अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।”

13. **प्रो.एम. कैपेलेटी राबेल** में एक प्रसिद्ध न्यायविद अपनी पुस्तक 'न्याय तक पहुँच' (खंड I) ने निम्नलिखित शब्दों में न्याय तक पहुँच के महत्व को समझाया:

“न्याय तक प्रभावी पहुँच का अधिकार नए सामाजिक अधिकारों के साथ उभरा है। वास्तव में, इन नए अधिकारों के बीच यह सर्वोपरि महत्वपूर्ण है क्योंकि, स्पष्ट रूप से, पारंपरिक के साथ-साथ नए सामाजिक अधिकारों का आनंद उनके प्रभावी संरक्षण के लिए विरचना का अनुमान लगाता है। इसके अलावा, न्यायिक प्रणाली के ढांचे के भीतर एक व्यवहार्य उपचार द्वारा इस तरह के संरक्षण का सबसे अच्छा आश्वासन दिया जाता है। इस प्रकार न्याय तक प्रभावी पहुँच को एक ऐसी प्रणाली की सबसे बुनियादी आवश्यकता-सबसे 'बुनियादी मानव अधिकार'-के रूप में देखा जा सकता है जो कानूनी अधिकार की गारंटी का दावा करता है।”

14. इंग्लैंड में अदालतों ने मैग्ना कार्टा के बाद की सदियों में सामान्य कानून के मौलिक सिद्धांतों को विकसित किया है जो सभी मनुष्यों के बुनियादी अधिकारों के रूप में सुरक्षित करता हैं। इन सिद्धांतों को समय के साथ विभिन्न देशों के अधिकारों के विधेयक और संविधानों के रूप में मान्यता दी गई थी, जो रोमन उक्ति 'उबी जुस इबी रेमेडियम' को स्वीकार करते थे, अर्थात जब प्रत्येक अधिकार का उल्लंघन किया जाता है तो उसे उपचार का अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। न्यायिक घोषणाओं ने न्याय तक पहुँच की अवधारणा पर विस्तार से चर्चा की है और अन्य पहलुओं के साथ-साथ अपने सभी नागरिकों को उनके बीच विवादों के संबंधित कानूनी अधिकार के न्यायपूर्ण और शांतिपूर्ण समाधान के लिए साधन उपलब्ध कराने के लिए राज्य के दायित्व को शामिल किया है। **आर बनाम गृह**

विभाग के राज्य सचिव के लिए एक्स पी लीच (1993 [4] ऑल ई. आर. 539) स्टेन एल. जे. एक कैदी के साथ काम कर रहा था जिसने शिकायत की थी कि मुकदमेबाजी के संबंध में अपने वकील के साथ पत्राचार जिसमें वह शामिल था या जिसे वह शुरू करने का इरादा रखता था, जेल अधिकारियों द्वारा जेल नियम, 1964 के तहत सेंसर किया जा रहा था। उन्होंने राज्य सचिव के अधिकार को विचाराधीन कानूनी कार्यवाही में उसके एवं उसके वकील के मध्य संवाद के मुक्त प्रवाह में बाधा पैदा करने के लिए चुनौती दी। अदालत ने माना कि न्याय तक पहुँच एक बुनियादी अधिकार है जिसे किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप या बाधा से अस्वीकार या कमजोर नहीं किया जा सकता है। अदालत ने कहा:

“यह हमारे कानून का एक सिद्धांत है कि प्रत्येक नागरिक को अदालत में निर्बाध पहुंच का अधिकार है। **रेमंड बनाम हनी 1983 एसी 1 (1982 [1] सभी ईआर 756)** में लॉर्ड विल्बरफोर्स ने इसे 'बुनियादी अधिकार' के रूप में वर्णित किया। यहां तक कि हमारे अलिखित संविधान में भी यह एक संवैधानिक अधिकार के रूप में दर्ज है। रेमंड बनाम हनी में, लॉर्ड विल्बरफोर्स ने कहा कि जेल अधिनियम, 1952 में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस अधिकार में 'हस्तक्षेप' करने या इसके प्रयोग में 'बाधा' डालने की शक्ति प्रदान करता हो। लॉर्ड विल्बरफोर्स ने कहा कि जो नियम इस सिद्धांत का पालन नहीं करते हैं, वे अधिकार से परे होंगे। किल्लोवन के लॉर्ड एल्विन जोन्स और लॉर्ड रसेल ने सहमति व्यक्त की। यह सच है कि लॉर्ड विल्बरफोर्स का मानना था कि नियम, जिनका ठीक से अर्थ लगाया गया था, अधिकार से परे नहीं थे। लेकिन यह टिप्पणियों के महत्व को प्रभावित नहीं करता है। लॉर्ड ब्रिज ने माना कि उस मामले में प्रश्नगत नियम अधिकार से परे थे। उन्होंने लॉर्ड विल्बरफोर्स से आगे बढ़कर कहा कि एक नागरिक के निर्बाध पहुंच के अधिकार को केवल स्पष्ट अधिनियम द्वारा छीन लिया जा सकता है। हमें ऐसा लगता है कि लॉर्ड विल्बरफोर्स का अवलोकन मामले के अनुपात निर्णय के रूप में स्थान पाता है, और हम स्वीकार करते हैं कि

ऐसे अधिकारों को कानूनी सिद्धांत के मामले में आवश्यक निहितार्थ द्वारा छीन लिया जा सकता है।”

15. भारत में कानूनी स्थिति अलग नहीं है। संविधान के प्रारंभ से बहुत पहले से इस देश में अदालतों द्वारा न्याय तक पहुंच को एक मूल्यवान अधिकार के रूप में मान्यता दी गई है। इस संबंध में संदर्भ पुनः दिया जा सकता है। **रे:लेवेलिन इवांस ए. आई. आर. 1926 बॉम 551** जिसमें इवांस अदन में गिरफ्तार किया गया और आपराधिक विश्वासघात के आरोप में बॉम्बे लाया गया। इवान के कानूनी सलाहकार को कैदी से मिलने से मना कर दिया गया था। रिमांड का आदेश देने वाले मजिस्ट्रेट ने कहा कि जेल अधिनियम, 1894 की धारा 40 के बावजूद, उन्हें प्रवेश देने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है। इसलिए जो सवाल विचार के लिए पड़ा वह यह था कि क्या अधिकार उस मंच तक विस्तारित था जहां कैदी पुलिस हिरासत में था। बॉम्बे उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 340 का उल्लेख करते हुए कहा कि उस प्रावधान के तहत अधिकार का तात्पर्य है कि कैदी को हिरासत में होने पर अपने बचाव की तैयारी के उद्देश्यों के लिए अपने कानूनी सलाहकार के साथ संवाद करने का उचित अवसर मिलना चाहिए। मदगावकर, न्यायाधीश ने पीठ को शामिल करते हुए कहा कि:

“...यदि न्याय का उद्देश्य न्याय है और न्याय की भावना निष्पक्षता है, तो प्रत्येक पक्ष को अपना मामला तैयार करने और न्यायालय के समक्ष पूरी तरह से, स्वतंत्र रूप से और निष्पक्ष रूप से अपना साक्ष्य रखने का समान अवसर मिलना चाहिए। इसमें अनिवार्य रूप से तैयारी शामिल है। इस तरह की तैयारी न्याय की दृष्टि से कहीं अधिक प्रभावी है, अगर इसे कुशल कानूनी सलाह की सहायता से बनाया जाता है- सलाह इतनी मूल्यवान है कि गंभीरतम आपराधिक मुकदमों में, जब जीवन या मृत्यु

संतुलन में लटकती है, तो वही राज्य जो कैदी पर मुकदमा चलाता है, उसे, यदि गरीब है, तो ऐसी कानूनी सहायता भी प्रदान करता है।”

16. पी. के. तारे बनाम एम्पर (ए. आई. आर. 1943 नागपुर 26) का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह एक ऐसा मामला था जिसमें याचिकाकर्ता ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लिया था। हिरासत को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि अधिकारियों द्वारा उन्हें कानूनी सलाह लेने या व्यक्तिगत रूप से अदालत से संपर्क करने के लिए अपने वकील से मिलने की अनुमति देने से इनकार करने के कारण इसे दूषित किया गया था। राज्य ने भारत रक्षा अधिनियम 1939 के आधार पर उस याचिका का विरोध किया, जिसने इसके अनुसार, 1898 की दं.प्र.सं. धारा 491 के तहत बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दायर करने के बंदी के अधिकार को छीन लिया। विवाद को खारिज करना और भगवान हैल्शम के अवलोकन पर भरोसा करना **एशुगबायी बनाम सरकार का प्रशासन करने वाला अधिकारी नाइजीरिया**, अदालत ने माना कि ऐसे मौलिक अधिकार, जिन्हें संविधान के तहत विस्तृत और चिंतित देखभाल के साथ संरक्षित किया गया है और क्षेत्र के सर्वोच्च न्यायाधिकरणों द्वारा अत्यधिक जोश की भाषा में बार-बार बरकरार रखा गया है, को निहितार्थ से दूर नहीं किया जा सकता है या कुछ व्यापक सामान्यता द्वारा हटाया नहीं जा सकता है। न्यायमूर्ति विवियन बोस ने अदालत की प्रमुख राय देते हुए समझाया कि उच्च न्यायालय में जाने का अधिकार भारत रक्षा अधिनियम, 1939 के बावजूद बरकरार रहा। उन्होंने आगे कहा कि हालांकि अदालतें कार्यपालिका को बहुत अधिक छूट देती हैं और विषय की स्वतंत्रता के पक्ष में धारणाएं कमजोर हो जाती हैं, लेकिन वे अधिकार पूरी तरह से गायब नहीं होते हैं। अदालत ने फैसला सुनाया कि इन नियमों की आड़ में आवेदकों को अदालत से दूर रखने का प्रयास शक्ति का दुरुपयोग था और इसमें हस्तक्षेप की आवश्यकता थी। न्यायमूर्ति बोस ने किसी भी व्यक्ति के अदालत में आवेदन करने के अधिकार के महत्व पर जोर दिया और मांग की कि उसके साथ कानून के अनुसार व्यवहार किया जाए। उन्होंने कहा:

“... ..इस अधिकार को भारत में इंग्लैंड या वास्तव में साम्राज्य के किसी भी अन्य हिस्से की तुलना में कम मूल्यवान नहीं माना जाता है, शायद यहां अन्य जगहों की तुलना में और भी अधिक मूल्यवान है और अदालतों द्वारा इसकी उत्साहपूर्वक रक्षा की जाती है।”

17. इस न्यायालय के निर्णयों ने भी संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा मौलिक अधिकार के ही रूप में मान्यता प्राप्त एक मूल्यवान संवैधानिक अधिकार के रूप में अदालत में जाने के नागरिक के अधिकार को स्पष्ट रूप से मान्यता दी है। [देखें **अनुच्छेद 143, भारत का संविधान के तहत [केशव सिंह मामला]** (ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 745) और **एल. चंद्र कुमार बनाम भारत संघ (1997) 3 एस. सी. सी. 261**]।

18. **हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य (1980) 1 एस. सी. सी. 81** मामले में, इस न्यायालय ने त्वरित सुनवाई को अनुच्छेद 21 में निहित जीवन और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का एक अभिन्न और आवश्यक हिस्सा घोषित किया। इसने यह भी बताया कि अनुच्छेद 39ए ने मुफ्त कानूनी सेवा को उचित, निष्पक्ष और न्यायपूर्ण प्रक्रिया का एक अअन्यसंक्राम्प तत्व बना दिया और ऐसी सेवाओं का अधिकार अनुच्छेद 21 की गारंटी में निहित था।

19. **इम्तियाज़ अहमद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (2012) 2 एस. सी. सी. 688** मामले में, इस न्यायालय की दो-न्यायाधीशों की पीठ, जिसमें हममें से एक (जे. ठाकुर) भी एक पक्षकार थे, इस न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा पारित एक अंतर्वर्ती आदेश की शुद्धता की जांच की, जिसके तहत एकल न्यायाधीश ने अतिरिक्त मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेश पर रोक लगा दी थी, जिसमें प्रतिवादियों के खिलाफ मामला दर्ज करने का निर्देश दिया गया था। चूंकि यह मामला उच्च न्यायालय के समक्ष लंबित था, और लगभग छह वर्षों से अधिक समय तक इसकी

सुनवाई नहीं हुई थी और चूंकि भारत के विभिन्न उच्च न्यायालयों में कई अन्य मामले इसी तरह लंबित थे, जिसमें निचली अदालत के समक्ष कार्यवाही पर रोक लगा दी गई थी, चाहे जघन्य अपराध से जुड़ा को भी मामला, जैसे हत्या, बलात्कार, अपहरण और डकैती आदि इस न्यायालय ने कार्यवाहियों का दायरा बढ़ाया और उच्च न्यायालयों के महानिबंधकों को निर्देश दिया कि वे संबंधित न्यायालयों में लंबित मामलों के आंकड़ों वाली एक रिपोर्ट प्रस्तुत करें जिसमें कार्यवाहियों पर प्राथमिकी दर्ज करने के चरण में रोक लगा दी गई थी, और संविधान के अनुच्छेद 226 या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 या 397 के तहत शक्तियों का प्रयोग करते हुए आरोप तय करने में। उच्च न्यायालयों द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत आंकड़ों के आधार पर, इस न्यायालय ने माना कि न्याय प्रशासन गंभीर आयामों की समस्याओं का सामना कर रहा था। इस न्यायालय ने उच्च न्यायालयों द्वारा उपलब्ध कराई गई सामग्री के आधार पर यह भी देखा कि मामलों के निपटारे में अनावश्यक रूप से लंबी देरी हो रही है जिसके परिणामस्वरूप कानून के शासन और आम आदमी के न्याय तक पहुंच प्राप्त करने के अधिकार का घोर उल्लंघन हो रहा है। न्याय तक पहुँच के महत्व पर जोर देते हुए और भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 से संबंधित मौलिक अधिकार के रूप में अधिकार को मान्यता देते हुए, इस न्यायालय ने कहा:

“.....

25. अनुचित रूप से लंबे समय तक देरी करने से कानून के शासन का घोर उल्लंघन होता है और आम आदमी की न्याय तक पहुंच पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। संविधान एवं विशेष रूप से अनुच्छेद 21 के तहत एक व्यक्ति की न्याय तक पहुँच एक गारंटीकृत मौलिक अधिकार है। अधिकार से इनकार न्याय वितरण प्रणाली में जनता के विश्वास को कमजोर करता है और लोगों को शॉट कट और अन्य मंचों की तलाश करने के लिए प्रोत्साहित करता है जहां उन्हें लगता है कि अन्याय जल्दी किया

जाएगा। लंबे समय में, यह न्याय वितरण प्रणाली को भी कमजोर करता है और कानून के शासन के लिए खतरा पैदा करता है।

26. यह उजागर करना अनुचित नहीं हो सकता है कि एक समतावादी लोकतंत्र में न्याय तक पहुंच का अर्थ न्याय तक गुणात्मक पहुंच भी होना चाहिए। इसलिए न्याय तक पहुंच किसी व्यक्ति की अदालतों तक पहुंच में सुधार या प्रतिनिधित्व की गारंटी से कहीं अधिक है। इसे यह सुनिश्चित करने के संदर्भ में परिभाषित किया जाना चाहिए कि कानूनी और न्यायिक परिणाम न्यायसंगत और असमान हैं [संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, न्याय तक पहुंच-अभ्यास नोट (2004) देखें]

27. वर्तमान मामला यह दोहराने की आवश्यकता का खुलासा करता है कि "न्याय तक पहुँच" कानून के शासन के लिए महत्वपूर्ण है, जिसमें निहितार्थ से एक स्वतंत्र न्यायपालिका तक पहुँच का अधिकार शामिल है। यह समर्पित किया जाता है कि महत्वपूर्ण अवधि के लिए जांच या मुकदमे पर रोक कानून के शासन के सिद्धांत के विपरीत है, जिसमें नागरिकों के अधिकार और आकांक्षाएं मामलों के त्वरित निष्कर्ष के साथ जुड़ी हुई हैं। यह आगे समर्पित किया जाता है कि आपराधिक मामलों के समापन में देरी स्वयं न्याय तक पहुँच के अधिकार पर प्रतिबंध का संकेत देती है, इस प्रकार संविधान के तहत नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन है, विशेष रूप से अनुच्छेद 21 के तहत।"

20. न्यायालय ने कहा कि कानून का शासन, न्यायपालिका की स्वतंत्रता और न्याय तक पहुँच वैचारिक रूप से परस्पर जुड़े हुए हैं। न्यायालय ने नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय वाचा और अंतर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय के कानून का भी उल्लेख किया। इसने 2007 के यूरोपीय संघ के मौलिक अधिकारों के चार्टर के अनुच्छेद 47 एवं 1950 के मानवाधिकार एवं मौलिक स्वतंत्रता के यूरोपीय सम्मेलन को भी संदर्भित

किया। यूरोपीय मानवाधिकार न्यायालय ने **डेलकोर्ट बनाम बेल्जियम**, 1970 ई. सी. एच. आर. 1 मामले में यह निर्णय दिया कि न्याय तक पहुंच भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 से संबंधित एक मूल्यवान मानव और मौलिक अधिकार है जिस पर भरोसा किया गया। यह कहने के बाद, इस न्यायालय ने उच्च न्यायालयों द्वारा कानून के शासन के बेहतर रखरखाव और न्याय के बेहतर प्रशासन के लिए निर्देश जारी किए। इसने भारत के विधि आयोग को एक अध्ययन करने और उन उपायों के संबंध में अपनी सिफारिशें समर्पित करने का भी निर्देश दिया, जो अतिरिक्त अदालतों और अन्य संबद्ध मामलों के निर्माण द्वारा किए जाने की आवश्यकता है, जिसमें बकाया राशि को समाप्त करने के लिए तर्कसंगत और वैज्ञानिक तरीके शामिल हैं, ताकि देरी को कम करने और लंबित मामलों के त्वरित निपटान में मदद मिल सके।

21. **बृज मोहन लाल बनाम भारत संघ और अन्य** (2012) 6 एस. सी. सी. 502 मामले में इस न्यायालय ने घोषणा की कि अनुच्छेद 21 नागरिकों को त्वरित और निष्पक्ष सुनवाई के अधिकारों की गारंटी देता है। न्यायालय ने टिप्पणी की:

“137. भारत के संविधान का अनुच्छेद 21 तेजी से त्वरित और निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार देता है। यहां तक कि संविधान का अनुच्छेद 39-ए भी के अधिकार को मान्यता देता है। नागरिकों को समान न्याय और मुफ्त कानूनी सहायता। सरल शब्दों में कहें तो यह सरकार का संवैधानिक कर्तव्य है कि वह देश के नागरिकों को ऐसी न्यायिक अवसंरचना और न्याय तक पहुँच के साधन प्रदान करे ताकि प्रत्येक व्यक्ति एक त्वरित, सस्ती और निष्पक्ष सुनवाई प्राप्त कर सके। वित्तीय सीमाओं या बाधाओं की याचिका को सरकार के संवैधानिक कर्तव्य के प्रदर्शन से बचने के लिए एक वैध बहाने के रूप में शायद ही उचित ठहराया जा सकता है, विशेष रूप से जब ऐसे

अधिकारों को नागरिकों के मानवाधिकारों के लिए बुनियादी और मौलिक के रूप में स्वीकार किया जाता है।”

22. तमिलनाडु मर्केटाइल बैंक शेयरधारक कल्याण संघ बनाम एस. सी. सेकर और अन्य (2009) 2 एस. सी. सी. 784 मामले में, इस न्यायालय ने घोषणा की कि एक पीड़ित व्यक्ति को उपचार के बिना नहीं छोड़ा जा सकता है और न्याय तक पहुंच एक मानव अधिकार है और कुछ स्थितियों में एक मौलिक अधिकार भी है।

23. ताकि न्यायिक सामग्री और मौलिक अधिकार के रूप में न्याय तक पहुंच का आधार केवल न्यायिक घोषणाओं द्वारा प्रदान नहीं किया जाता है, संविधान की समीक्षा आयोग ने सिफारिश की है कि न्याय तक पहुंच को दक्षिण अफ्रीकी संविधान, 1996 की तरह एक स्पष्ट मौलिक अधिकारों के रूप में शामिल किया जाए। दक्षिण अफ्रीकी संविधान के अनुच्छेद 34 में कहा गया है:

“अनुच्छेद 34: न्यायालयों और न्यायाधिकरणों तक पहुंच और त्वरित न्याय।

(1) हर किसी को किसी भी विवाद का अधिकार है जिसका समाधान किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण या मंच या जहां उपयुक्त हो, किसी अन्य स्वतंत्रता और निष्पक्ष न्यायालय, न्यायाधिकरण या मंच के समक्ष निष्पक्ष सार्वजनिक सुनवाई में तय किए गए कानून के अनुप्रयोग द्वारा किया जा सकता है।

(2) न्यायालयों तक पहुँच का अधिकार होगा - न्यायालयों, न्यायाधिकरणों या अन्य मंचों के समक्ष सभी मामलों में यथोचित रूप से त्वरित और प्रभावी न्याय का अधिकार शामिल माना जाता है और राज्य उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी उचित कदम उठाएगा।”

24. आयोग द्वारा संविधान में अनुच्छेद 30 ए को निम्नलिखित शब्दों में शामिल करने का प्रस्ताव किया गया था:

“30 ए: न्यायालयों और न्यायाधिकरणों तक पहुँच और त्वरित न्याय।

(1) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी विवाद का अधिकार है जिसे एक स्वतंत्रता अदालत या, जहाँ उपयुक्त हो, किसी अन्य स्वतंत्रता और निष्पक्ष न्यायाधिकरण या मंच के समक्ष निष्पक्ष सार्वजनिक सुनवाई में तय किए गए कानून के अनुप्रयोग द्वारा हल किया जा सकता है।

(2) न्यायालयों तक पहुँच के अधिकार में न्यायालयों, न्यायाधिकरणों या अन्य मंचों के समक्ष सभी मामलों में युक्तियुक्त रूप से त्वरित और प्रभावी न्याय का अधिकार शामिल माना जाएगा और राज्य उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी उचित कदम उठाएगा।”

25. इस सिफारिश के कारण अभी तक प्रस्तावित अनुच्छेद 30 ए को शामिल नहीं किया गया है, लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि प्रस्तावित अनुच्छेद ने संवैधानिक गारंटी में क्या जोड़ा होगा, जिसे इस न्यायालय की न्यायिक घोषणाओं द्वारा संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार के एक हिस्से के रूप में पहले से ही स्वीकार किया गया है। अनुच्छेद 30 ए के प्रस्तावित निगमन ने बस उसे औपचारिक रूप दे दिया होगा जिसे न्यायाधीशों और न्यायविदों द्वारा पहले से ही समान रूप से मान्यता प्राप्त है। वी. कृष्ण अय्यर न्यायाधीश ने अपनी अनूठी शैली में न्याय तक पहुँच के महत्व को निम्नलिखित शब्दों में समझाया:

“न्याय तक पहुँच मानवाधिकारों के लिए बुनियादी है और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत रेत की रस्सियाँ, चिढ़ाने वाले भ्रम और अवास्तविकता का वादा बन जाते हैं,

जब तक कि आम लोगों के लिए अदालत तक पहुँचने, उपचार प्राप्त करने और कानून और न्याय के फल का आनंद लेने के लिए प्रभावी साधन न हों।”

26. संक्षेप में: न्याय तक पहुँच को भारत और दुनिया भर के सभी सभ्य समाजों में जीवन के अधिकार के एक हिस्से के रूप में मान्यता दी गई है। अधिकार इतना बुनियादी और अविभाज्य है कि शासन की कोई भी प्रणाली संभवतः इसके महत्व को नजरअंदाज नहीं कर सकती, इसे अपने नागरिक के लिए नकारने की तो बात ही छोड़िए। मैग्ना कार्टा, अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय वाचा, 1966, प्राचीन रोमन न्यायशास्त्र का सिद्धांत 'यूबी जुस इबी रेमेडियम', अतीत की सदियों में न्यायालयों की न्यायिक घोषणाओं द्वारा सामान्य कानून के मौलिक सिद्धांतों के विकास में न्याय तक पहुँच को एक बुनियादी और अविभाज्य मानव अधिकार के रूप में स्वीकार करने में योगदान दिया है जिसे सभी सभ्य समाज और प्रणालियाँ मान्यता देती हैं और लागू करती हैं।

27. इस न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 21 में आने वाले 'जीवन' शब्द को एक विस्तृत अर्थ और व्याख्या देते हुए कई निर्णय लिए हैं। **मनेका गांधी बनाम भारत संघ (1978) 1 एस. सी. सी. 248** मामले में, इस न्यायालय ने यह न्यायालय घोषणा की कि जीवन के अधिकार का अर्थ केवल पशु अस्तित्व नहीं है, बल्कि इसमें वह हर पहलू शामिल है जो जीवन को सार्थक और रहने योग्य बनाता है। (जाँच करने के लिए)। **सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन (1978) 4 एस. सी. सी. 494** मामले में एकान्त कारावास और जेल यातना और हिरासत में मौत को जीवन के अधिकार का हिस्सा घोषित किया गया था। **चार्ल्स में शोभराज बनाम अधीक्षक केंद्रीय जेल (1978) 4 एस. सी. सी. 104** मामले में बार की रुकावट के खिलाफ अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत संरक्षित अधिकार घोषित किया गया था। **खत्री II बनाम बिहार राज्य (1981) 1 एस. सी. सी. 627** में, मुफ्त कानूनी

सहायता के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत अधिकार माना गया था। **प्रेम शंकर शुक्ला बनाम दिल्ली प्रशासन (1980) 3 एस. सी. सी. 526** मामले में हथकड़ी लगाने के खिलाफ अधिकार अनुच्छेद 21 के तहत एक अधिकार घोषित किया गया था। **रुदल शाह बनाम बिहार राज्य (1983) 4 एस. सी. सी. 141** में भी अवैध और गैरकानूनी नजरबंदी के लिए मुआवजे के अधिकार को अनुच्छेद 21 के साथ-साथ अनुच्छेद 14 के तहत जीवन का अधिकार माना जाता था। **शीला बारसे बनाम भारत संघ (1988) 4 एस. सी. सी. 226**, मामले में इस न्यायालय ने त्वरित सुनवाई को अनुच्छेद 21 के तहत एक आवश्यक अधिकार घोषित किया। **परमानंद कटारा बनाम भारत संघ (1989) 4 एस. सी. सी. 248** मामले में, आपातकाल का अधिकार, चिकित्सा सहायता को संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत संरक्षित घोषित किया गया था। **चमेली सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1996) 2 एस. सी. सी. 549** और **शांतिस्टार बिल्डर्स बनाम नारायण खिमलाल टोटामे (1990) 1 एस. सी. सी. 520** में, आश्रय कपड़े, सभ्य वातावरण और एक सभ्य आवास का अधिकार को भी जीवन का एक हिस्सा माना जाता था। **एमसी मेहता बनाम भारत संघ (1997) 1 एस. सी. सी. 388** मामले में, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार अनुच्छेद 21 के तहत जीवन का अधिकार माना गया था। **लता सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2006) 5 एस. सी. सी. 475** मामले में, संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत विवाह को जीवन के अधिकार का हिस्सा माना गया था। **सुचिता श्रीवास्तव बनाम चंडीगढ़ प्रशासन (2009) 9 एस. सी. सी. 1** मामले में, प्रजनन विकल्प का अधिकार, जीवन का अधिकार घोषित किया गया था। जबकि **सुखवंत सिंह बनाम पंजाब राज्य (2009) 7 एससीसी 559** मामले में प्रतिष्ठा के अधिकार को अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार का एक पहलू घोषित किया गया था। इस न्यायालय के हाल के संविधान पीठ के **सुब्रमण्यम स्वामी बनाम भारत संघ [डब्ल्यू. पी. (अपराधिक) सं. 2014 का 184** के मामले के निर्णय में, इस न्यायालय ने प्रतिष्ठा को अनुच्छेद 21 का एक अंतर्निहित और अविभाज्य घटक माना।

28. इस तथ्य को देखते हुए कि ऊपर उल्लिखित घोषणाओं ने जीवन के अधिकार के लिए आनुषंगिक और/या अभिन्न माने जाने वाले अधिकारों के व्यापक स्पेक्ट्रम पर संविधान के अनुच्छेद 21 में दिखाई देने वाले "जीवन" शब्द की व्याख्या और समझ की है, इसका कोई वास्तविक कारण नहीं है कि न्याय तक पहुंच को उक्त अधिकार के वर्ग और श्रेणी से बाहर माना जाना चाहिए, जिसे पहले से ही भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के एक हिस्से के रूप में मान्यता प्राप्त है।

यदि "जीवन" का तात्पर्य न केवल भौतिक अर्थों में जीवन है, बल्कि अधिकारों का एक समूह है जो जीवन को जीने लायक बनाता है, तो यह मानने के लिए कोई कानूनी या अन्य आधार नहीं है कि "न्याय तक पहुँच" से इनकार करने से मानव जीवन की गुणवत्ता प्रभावित नहीं होगी ताकि अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार के दायरे से न्याय तक पहुँच प्राप्त की जा सके। इसलिए, हमें यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि न्याय तक पहुँच वास्तव में संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार का एक पहलू है। हमें केवल यह जोड़ने की आवश्यकता है कि न्याय तक पहुँच संविधान के अनुच्छेद 14 के तहत गारंटीकृत अधिकार का पहलू भी हो सकता है, जो न केवल नागरिकों बल्कि गैर-नागरिकों को भी कानून के समक्ष समानता और कानूनों के समान संरक्षण की गारंटी देता है। हम ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि कानून के समक्ष समानता और कानूनों का समान संरक्षण कानून को लागू करने वाली कार्यकारी कार्रवाई के दायरे में इसके अनुप्रयोग तक सीमित नहीं है। यह न्यायालयों और न्यायाधिकरण और न्यायनिर्णायक मंचों के समक्ष कार्यवाही के संबंध में उतना ही उपलब्ध है जहां कानून लागू किया जाता है और न्याय प्रशासित किया जाता है। अदालतों तक पहुँचने में नागरिक की असमर्थता या अधिकारों और दायित्वों के निर्धारण के लिए प्रदान किया गया कोई अन्य न्यायिक तंत्र कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ कानूनों के समान संरक्षण दोनों के संबंध में अनुच्छेद 14 में निहित गारंटी से इनकार करने के लिए बाध्य है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि किसी भी

न्यायिक तंत्र की अनुपस्थिति या इस तरह के तंत्र की अपर्याप्तता, कानूनों के समक्ष समानता के अपने अधिकार को लागू करने और कानूनों के समान संरक्षण की मांग करने वालों को निवारण की मांग करने से रोकने के लिए बाध्य है और इस तरह कानूनों के समक्ष समानता या कानूनों के समान संरक्षण की गारंटी को नकारती है और इसे केवल एक चिढ़ाने वाले भ्रम में बदल देती है। संविधान के अनुच्छेद 21 के अलावा, न्याय तक पहुंच को अनुच्छेद 14 में निहित गारंटी का भी हिस्सा कहा जा सकता है।

29. फिर उस अधिकार का विस्तार और सामग्री क्या है, यह अगला सवाल है जिसका जवाब सिद्धांत और वास्तविक जीवन स्थितियों में इसके महत्व की पूरी समझ के लिए दिया जाना चाहिए।

30. चार मुख्य पहलू जो, हमारी राय में, न्याय तक पहुँच का सार हैं, वे हैं:

i) राज्य को एक प्रभावी न्यायनिर्णायक तंत्र प्रदान करनी चाहिए।

(ii) इस प्रकार प्रदान किया गया तंत्र दूरी के संदर्भ में उचित रूप से सुलभ होना चाहिए।

(iii) न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए; और

(iv) न्यायनिर्णायक प्रक्रिया तक वादी की पहुंच प्रदान करने योग्य होनी चाहिए।

(i) न्यायनिर्णायक तंत्र की आवश्यकता: इनमें से एक नागरिकों को न्याय तक पहुंच प्रदान करने के लिए सबसे बुनियादी आवश्यकताएं एक न्यायनिर्णायक तंत्र की स्थापना करना है, चाहे वह न्यायालय, न्यायाधिकरण, आयोग या प्राधिकरण के रूप में वर्णित हो या किसी अन्य नाम से जाना जाए, जहां एक नागरिक अपनी शिकायत का विरोध कर सकता है और निर्णय ले सकता है जिसे वह किसी अन्य नागरिक या राज्य या उसके किसी भी साधन द्वारा अपने अधिकार के उल्लंघन के रूप में देख

सकता है। न्याय तक पहुँचने के नागरिक के अधिकार की रक्षा करने के लिए, इस प्रकार प्रदान किया गया तंत्र न केवल प्रभावी होना चाहिए, बल्कि अपने दृष्टिकोण में न्यायपूर्ण, निष्पक्ष और उद्देश्यपूर्ण भी होना चाहिए। इसी प्रकार न्यायालय, न्यायाधिकरण या प्राधिकरण द्वारा निर्णय के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया भी अपने आप में न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होनी चाहिए और प्राकृतिक न्याय के अच्छी तरह से मान्यता प्राप्त सिद्धांतों के अनुरूप होनी चाहिए।

(ii) दूरी के संदर्भ में तंत्र सुविधाजनक रूप से सुलभ होना चाहिए: इस प्रकार प्रदान किया गया मंच/तंत्र, न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के पदानुक्रम को ध्यान में रखते हुए, न्याय तक पहुँच के लिए दूरी के संदर्भ में यथोचित रूप से सुलभ होना चाहिए क्योंकि इतना कुछ वादी की अपनी शिकायत को अदालत/न्यायाधिकरण/अदालत/सक्षम प्राधिकारी के समक्ष प्रभावी ढंग से रखने की क्षमता पर निर्भर करता है। (डी. के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य (2015) 8 एस. सी. सी. 774 देखें।)

(iii) न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए। “एक संवैधानिक मूल्य के रूप में “न्याय तक पहुँच” केवल एक भ्रम होगा यदि न्याय त्वरित नहीं है। प्रसिद्ध रूप से कहा जाता है कि न्याय में देरी करना न्याय से इनकार करना है। यदि न्याय के प्रशासन की प्रक्रिया न्याय की मांग करने वालों के लिए इतनी समय लेने वाली, श्रमसाध्य, सुस्त और निराशाजनक है कि यह उन्हें एक विकल्प के रूप में उस प्रक्रिया का सहारा लेने पर विचार करने से भी रोकती है या भय दिखाकर रोकती है। तो यह न केवल न्याय तक पहुँच से इनकार करने के समान होगा, बल्कि स्वयं न्याय से भी इनकार करने के समान होगा। शीला बार्से का मामला (ऊपर) इस न्यायालय ने त्वरित सुनवाई को जीवन के अधिकार का एक पहलू घोषित किया, क्योंकि यदि किसी नागरिक का मुकदमा अंतहीन रूप से चलता है तो उसके जीवन के

अधिकार का ही हनन होता है। न्यायिक रूप से एक ओर आपराधिक मामले में त्वरित सुनवाई से इनकार करने और दूसरी ओर दीवानी मुकदमे, अपील या अन्य कार्यवाही के बीच कोई गुणात्मक अंतर नहीं है, क्योंकि क्या हमें यह जानना चाहिए कि दीवानी विवादों का कभी-कभी नागरिक के जीवन या उसकी गुणवत्ता पर समान रूप से, यदि नहीं, तो अधिक गंभीर प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए, न्याय तक पहुँच किसी भी महत्व और उपयोगिता का एक संवैधानिक मूल्य तभी होगा जब नागरिक को न्याय का वितरण तेजी से हो, अन्यथा, न्याय तक पहुँच का अधिकार नागरिक के लिए कोई उपयोग या प्रेरणा के खोखले नारे से ज्यादा कुछ नहीं है। यह खुशी की बात है कि पिछले छह दशकों या लगभग में देश में स्थापित न्यायालयों की संख्या उस दिन की तुलना में कई गुना बढ़ गई है जब देश ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की थी। आजकल लगभग हमेशा हर तालुका में कनिष्ठ या वरिष्ठ प्रभाग के दीवानी न्यायाधीश का एक न्यायालय एवं हर जिला में एक जिला एवं सत्र न्यायाधीश है। एक नागरिक को जिस दूरी की यात्रा करनी चाहिए, उसकी दृष्टि से सुलभता के संदर्भ में, हम अंग्रेजों के देश छोड़ने के समय से एक लंबा सफर तय कर चुके हैं। हालाँकि, साक्षरता, जागरूकता, समृद्धि और प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होने में कानूनों के वृद्धि ने निर्णय लेने की प्रक्रिया को धीमा और समय लेने वाला बना दिया है, मुख्य रूप से अत्यधिक काम करने और कर्मचारियों की कमी वाली न्यायिक प्रणाली के कारण, जो अदालतों में दायर किए जा रहे मामलों की लगातार बढ़ती संख्या और अधीनस्थ अदालतों में तीस मिलियन से अधिक मामलों के बढ़ते सथय से प्रभावी ढंग से निपटने के लिए आवश्यक मानव संसाधन और बुनियादी ढांचे के साथ अतिरिक्त अदालतों के निर्माण की मांग कर रही है। जबकि राज्यों ने नागरिक या आपराधिक संघर्षों के समाधान के लिए बुनियादी न्यायिक तंत्र प्रदान करने के मामले में अपना काम किया है, न्याय तक पहुँच इस कारण से निर्णय की प्रक्रिया को पूरा करने में

देरी अन्य देशों की तुलना में खराब न्यायाधीश आबादी(संख्या) एवं खराब न्यायाधीश, वाद(मामला) अनुपात एक बड़ा प्रश्न चिन्ह बना हुआ है।

(iv) निर्णय लेने की प्रक्रिया विवादियों के लिए खर्च दे सकने योग्य होनी चाहिए:

न्याय तक पहुँच फिर से एक भ्रम से अधिक कुछ नहीं होगा यदि प्रदान किया गया न्यायनिर्णायक तंत्र इतना महंगा है कि एक विवादित व्यक्ति को इसका सहारा लेने से रोक सके। संविधान का अनुच्छेद 39-ए जरूरतमंद वादियों को कानूनी सहायता प्रदान करने के एक प्रशंसनीय उद्देश्य को बढ़ावा देता है और राज्य को समाज के कम भाग्यशाली वर्गों के लिए न्याय तक पहुँच को किफायती बनाने के लिए बाध्य करता है। जरूरतमंदों को कानूनी सहायता के पहुँच को पहलुओं में से एक के रूप में **माधव हयावदानराव होसकोट बनाम महाराष्ट्र राज्य (1978) 3 एस. सी. सी. 544** मामले में मान्यता दी गई है जहाँ इस न्यायालय ने टिप्पणी की:

“यदि कारावास की सजा पाने वाला कोई कैदी कानूनी सहायता के अभाव में अपील करने के अपने संवैधानिक और वैधानिक अधिकार का प्रयोग करने में वस्तुतः असमर्थ है, जिसमें अपील करने की विशेष अनुमति भी शामिल है, तो न्यायालय में संविधान के अनुच्छेद 142 के साथ पठित अनुच्छेद 21 एवं अनुच्छेद 39ए पूर्ण न्याय करने के लिए ऐसे कैद व्यक्ति के लिए वकील नियुक्त करने की शक्ति अंतर्निहित है। यह संहिता द्वारा प्रदत्त और संविधान के अनुच्छेद 136 द्वारा अनुमत अपील के अधिकार की एक आवश्यक घटना है। अनुमान अपरिहार्य है कि यह राज्य का कर्तव्य है न कि सरकार का दान। समान रूप से सकारात्मक यह निहितार्थ है कि कानूनी सेवाएं लाभार्थी के लिए मुफ्त होनी चाहिए, लेकिन वकील को स्वयं अपनी सेवाओं के लिए उचित रूप से पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए। निश्चित रूप से, इस पेशे की लोगों के प्रति

सार्वजनिक प्रतिबद्धता है, लेकिन इसके सदस्यों की केवल परोपकार से लंबे समय में कम लाभ मिलता है। उनकी सेवाओं के लिए, विशेष रूप से जब वे राज्य की ओर से हों, भुगतान किया जाना चाहिए। स्वाभाविक रूप से, संबंधित राज्य को एक उचित राशि का भुगतान करना चाहिए जिसे अदालत कैदी को वकील नियुक्त करते समय तय कर सकती है। बेशक, अदालत स्थिति का न्याय कर सकती है और सभी कोणों से विचार कर सकती है कि क्या न्याय के उद्देश्यों के लिए विशेष मामले में कानूनी सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। हर उस देश में जहां मुफ्त कानूनी सेवाएं दी जाती हैं, यह सभी मामलों में नहीं किया जाता है, बल्कि केवल उन मामलों में किया जाता है जहां सार्वजनिक न्याय अन्यथा प्रभावित होता है। यह विवेकाधिकार अदालत में रहता है।”

31. कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 के तहत राज्य प्रायोजित कानूनी सहायता कार्यक्रमों द्वारा न्याय तक पहुंच की सामर्थ्य का कुछ हद तक ध्यान रखा गया है। कानूनी सहायता कार्यक्रम अदालतों में न्याय प्राप्त करने के लिए समाज के गरीब वर्गों को बहुत आवश्यक सहायता प्रदान कर रहे हैं।

32. यह हमें उस प्रश्न के दूसरे पहलू की ओर ले जाता है जिसका हमें उल्लेख किया गया है कि क्या भारत के संविधान का अनुच्छेद 32 जिसे अनुच्छेद 142 के साथ पढ़ा जाता है, सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी स्थिति में स्थानांतरण का निर्देश देने का अधिकार देता है जहां न तो केंद्रीय दीवानी प्रक्रिया संहिता या केंद्रीय दंड प्रक्रिया संहिता जम्मू और कश्मीर राज्य में/से इस तरह के हस्तांतरण को सशक्त बनाती है। एक अदालत से दूसरी अदालत में मामलों के हस्तांतरण की आवश्यकता अक्सर कई स्थितियों में उत्पन्न होती है जिन्हें दीवानी प्रक्रिया संहिता (सी. पी. सी.) या दंड प्रक्रिया संहिता (दं.प्र.सं.) के तहत उन्हें उपलब्ध

शक्तियों का प्रयोग करते हुए स्थानांतरण का निर्देश देने के लिए सक्षम अदालतों द्वारा उपयुक्त रूप से संबोधित किया जाता है। पक्षकारों और गवाहों की सुविधा अक्सर अदालतों द्वारा इस तरह के स्थानांतरण का निर्देश देने का मुख्य कारण बनती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि जबकि देश के बाकी हिस्सों में अदालतें सी. पी. सी. और दं.प्र.सं. के प्रावधानों के तहत दीवानी/आपराधिक मामलों के हस्तांतरण के लिए आवेदनों पर विचार करती हैं। यह तथ्य कि जम्मू और कश्मीर राज्य से या राज्य में हस्तांतरण के लिए ऐसा कोई सक्षम प्रावधान नहीं है, इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए किसी वरिष्ठ न्यायालय की शक्ति को कम नहीं करता है, अगर यह राय है कि न्याय के हित के सहायक होने लिए ऐसा निर्देश आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, भले ही अदालतों को एक अदालत से दूसरी अदालत में सीधे हस्तांतरण करने का अधिकार देने वाला प्रावधान कानून से हटा दिया जाए, फिर भी वरिष्ठ अदालतें उचित मामलों में इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए सक्षम होंगे, जब तक कि ऐसे न्यायालयों संतुष्ट न हो कि इस तरह के हस्तांतरण से इनकार करने के परिणामस्वरूप किसी दिए गए तथ्य की स्थिति में वादी को न्याय तक पहुँच के अधिकार का उल्लंघन होगा।

33. अब यदि न्याय तक पहुँच संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत जीवन के अधिकार का एक पहलू है, तो उस अधिकार का वास्तविक उल्लंघन या खतरा संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत इस न्यायालय की शक्तियों के आह्वान को उचित ठहराएगा। उस अनुच्छेद के तहत अदालत में निहित शक्ति का प्रयोग उन स्थितियों को पूरा करने के लिए एक अदालत से दूसरी अदालत में मामले के हस्तांतरण के लिए एक निर्देश का रूप ले सकता है जहां वैधानिक प्रावधान ऐसे हस्तांतरण को प्रावधानित नहीं करते हैं। इस तरह की कोई भी कवायद वैध होगी, क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत नागरिकों के मौलिक अधिकार के उल्लंघन को रोकेगी।

34. यह कि अनुच्छेद 32 के अलावा संविधान के अनुच्छेद 142 को भी किसी मामले को एक अदालत से दूसरी अदालत में सीधे स्थानांतरित करने के लिए लागू किया जा सकता है, जैसा कि **संघ कार्बाइड निगम बनाम भारत संघ** (1991) 4 एस. सी. सी. 584 में इस न्यायालय की संविधान पीठ के फैसले द्वारा भी तय किया गया है। इनमें से एक सवाल उस मामले में जो विचार के लिए पड़ा वह यह था कि क्या यह न्यायालय अनुच्छेद 136 और 142 के तहत अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए निचली अदालत में लंबित मामले को वापस ले सकता है और अंत में उसी का निपटारा कर सकता है, भले ही अनुच्छेद 139-ए अदालत को ऐसा करने का अधिकार नहीं देता हो। प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देते हुए, इस न्यायालय ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 139-ए के तहत मामलों को स्थानांतरित करने की शक्ति समाप्त नहीं हुई है। इस न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 139-ए वादी को कार्यवाही के हस्तांतरण की मांग करने में सक्षम बनाता है, यदि अनुच्छेद की शर्तें पूरी हो जाती हैं। उक्त अनुच्छेद का उद्देश्य न तो संविधान के अनुच्छेद 136 और 142 के तहत इस न्यायालय को उपलब्ध व्यापक शक्तियों को प्रभावित करने का काम करता है। इस संबंध में निर्णयों के निम्नलिखित दो परिच्छेद उपयुक्त हैं:

“61. जिस हद तक उच्चतम न्यायालय में मामलों को वापस लेने और स्थानांतरित करने की शक्ति, न्यायालय की राय में, अनुच्छेद 136 और 142 (1) के उच्च उद्देश्य को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से आवश्यक है, अनुच्छेद 139-ए के तहत शक्ति को वापस लेने और हस्तांतरण की शक्ति को समाप्त नहीं करने के लिए माना जाना चाहिए। अनुच्छेद 139-ए, जिसका यहां उल्लेख करना प्रासंगिक है, संविधान के बयालीसवें संशोधन की योजना के हिस्से के रूप में पेश किया गया था। उस संशोधन ने अनुच्छेद 131-ए, 139-ए एवं 144-ए को शामिल करके केंद्रीय कानूनों की संवैधानिक वैधता निर्धारित करने हेतु सर्वोच्च न्यायालय को विशेष अधिकार क्षेत्र के साथ निवेश करने का प्रस्ताव किया। लेकिन अनुच्छेद 131-ए और 144-ए को

तैतालिसवें संशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा हटा दिया गया, जिससे अनुच्छेद 139-ए बरकरार रहा। वह अनुच्छेद वादियों को कार्यवाही के हस्तांतरण के लिए शीर्ष न्यायालय का रुख करने के हेतु सक्षम बनाता है यदि उस अनुच्छेद में परिकल्पित शर्तें संतुष्ट हो जाती हैं। अनुच्छेद 139-ए का उद्देश्य न तो संविधान के अनुच्छेद 136 और 142 के तहत मौजूदा व्यापक शक्तियों को कम करना था और न ही यह कम करने का काम करता है।”

35. इस सवाल से निपटने के लिए कि क्या एक साधारण क़ानून में निहित कोई प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 142 के तहत शक्तियों के प्रयोग को प्रभावित करेगा, इस अदालत ने कहा कि अनुच्छेद 142 के तहत संवैधानिक शक्ति पूरी तरह से अलग स्तर पर थी और एक साधारण क़ानून उस शक्ति के प्रयोग को नियंत्रित नहीं कर सकता था। बहुमत के लिए बोलते हुए, न्यायाधीश वेंकरचलैया उनके प्रभु के रूप में, तत्कालीन अवलोकन किया:

“अनुच्छेद 142 के तहत शक्ति पूरी तरह से अलग स्तर पर और एक अलग गुणवत्ता की है। सामान्य क़ानूनों में निहित निषेध या सीमाएं या प्रावधान, वास्तव में, अनुच्छेद 142 के तहत संवैधानिक शक्तियों पर निषेध या सीमाओं के रूप में कार्य नहीं कर सकते हैं। क़ानून में इस तरह के निषेध या सीमाएं किसी विशेष क़ानून की योजना को मूर्त रूप दे सकती हैं और प्रतिबिंबित कर सकती हैं, जो प्राधिकरण या अदालत की प्रकृति और स्थिति को ध्यान में रखते हुए हो सकती हैं, जिस पर किसी उचित तरीके से प्रदान या सीमित शक्ति पर विचार किया जाता है। सीमाएँ अनिवार्य रूप से सार्वजनिक नीति के किसी भी मौलिक विचार को प्रतिबिंबित या उन पर आधारित नहीं हो सकती हैं। लेकिन हम सोचते हैं कि इस तरह के निषेध को सार्वजनिक नीति के कुछ अंतर्निहित मौलिक और सामान्य मुद्दों पर आधारित भी दिखाया जाना चाहिए, न कि केवल किसी विशेष वैधानिक योजना या पैटर्न के लिए

आकस्मिक। यह कहना फिर से पूरी तरह से गलत होगा कि अनुच्छेद 142 के तहत शक्तियां इस तरह के स्पष्ट वैधानिक निषेधों के अधीन हैं। यह इस विचार को व्यक्त करेगा कि वैधानिक प्रावधान एक संवैधानिक प्रावधान पर हावी होते हैं। शायद, विचार को व्यक्त करने का उचित तरीका यह है कि अनुच्छेद 142 के तहत शक्तियों का प्रयोग करते हुए और किसी कारण या मामले के "पूर्ण न्याय" की आवश्यकताओं का आकलन करते हुए, शीर्ष न्यायालय सार्वजनिक नीति के कुछ मौलिक सिद्धांतों के आधार पर किसी भी ठोस प्रावधान में स्पष्ट निषेधों पर ध्यान देगा और तदनुसार अपनी शक्ति और विवेक के प्रयोग को विनियमित करेगा। यह प्रस्ताव अनुच्छेद 142 के तहत न्यायालय की शक्तियों से संबंधित नहीं है, बल्कि केवल किसी कारण या मामले के 'पूर्ण न्याय' होने या न होने और शक्ति के प्रयोग के औचित्य के अंतिम विश्लेषण से संबंधित है। अधिकार क्षेत्र की कमी या शून्यता का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता है।”

36. वर्तमान मामलों में, जम्मू और कश्मीर राज्य के न्यायालय से मामलों को राज्य के बाहर के न्यायालय में या इसके विपरीत स्थानांतरित करने के लिए निर्देश देने के लिए अनुच्छेद 142 के तहत शक्ति के उपयोग के खिलाफ कोई निषेध नहीं है। बस इतना ही कहा जा सकता है कि जिन कारणों का हमने पहले संकेत दिया है, उनके कारण कोई सक्षम प्रावधान नहीं है। हालांकि, एक सक्षम प्रावधान की अनुपस्थिति को इसके खिलाफ निषेध के रूप में जम्मू और कश्मीर राज्य में या उससे मामलों का हस्तांतरण का निषेध नहीं माना जा सकता है। किसी भी तरह से, एक निषेध सरलीकरण पर्याप्त नहीं है। समान रूप से महत्वपूर्ण यह देखना है कि क्या इस तरह के किसी भी निषेध में सार्वजनिक नीति का कोई मौलिक सिद्धांत अंतर्निहित है। इस तरह का कोई प्रतिबंध या कोई सार्वजनिक नीति किसी भी मौलिक सिद्धांत पर आधारित सार्वजनिक नीति से बहुत कम मामलों में नहीं देखी जा सकती है। इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 142 के तहत इस न्यायालय को उपलब्ध

असाधारण शक्ति का उपयोग ऐसी स्थिति में किया जा सकता है जहां न्यायालय संतुष्ट हो कि जम्मू और कश्मीर राज्य में न्यायालय से या न्यायालय में स्थानांतरण के आदेश से इनकार करने से नागरिक को न्याय तक पहुँच के उसके अधिकार से वंचित कर दिया जाएगा। इसलिए, अनुच्छेद 32, 136 और 142 के प्रावधान इस न्यायालय को उचित परिस्थितियों में इस तरह के हस्तांतरण का निर्देश देने के लिए सशक्त करने के लिए पर्याप्त हैं, चाहे कोई भी केंद्रीय दीवानी और आपराधिक प्रक्रिया संहिता राज्य में लागू न हो और न ही दीवानी और आपराधिक प्रक्रिया की राज्य संहिताओं में ऐसा कोई प्रावधान हो जो इस न्यायालय को मामलों को स्थानांतरित करने का अधिकार देता हो। हम तदनुसार उस प्रश्न का उत्तर देते हैं जो हमें सकारात्मक रूप में संदर्भित किया गया है।

37. स्थानांतरण याचिकाओं को अब सुनवाई के लिए एवं गुण-दोष पर निपटान हेतु ऊपर जो देखा गया है उसे ध्यान में रखते हुए नियमित पीठ के समक्ष सूचीबद्ध किया जाएगा।

देविका गुजराल

संदर्भित प्रश्न का उत्तर दिया गया